

हिन्द स्वराज की अंतस्संरचना : विकास के वैकल्पिक मॉडल की तलाश

विनोद शाही

संस्कृति विषयक गम्भीर लेखन के लिए चर्चित। मार्क्सवाद, गांधीवाद एवं आधुनिकता सम्बंधी कार्यों ने काफी ध्यानाकृष्ट किया है।

‘हिन्द स्वराज’ के आधार पर महात्मा गांधी के चिन्तन की मूल पद्धति पर विचार करें, तो पायेंगे कि उसके तीन अहम हिस्से हैं। पहले का ताल्लुक उनके द्वारा की गयी उनके अपने समय की बुराइयों की आलोचना से है। दूसरे हिस्से के तहत वे अपनी इस आलोचना की वजह को बताते हैं और इसके लिए जमीनी यथार्थ की एक अपनी तरह की समझ को कसौटी बनाते हैं। फिर वे तीसरे हिस्से में आते हैं जहां वे विकल्प की तलाश करते हैं और उसे अमलीजामा पहनाने के लिये कुछ ठोस कार्यक्रमों या जीवनशैलियों की चर्चा करते हैं। उनकी ऐसी चिन्तन प्रक्रिया, ‘हिन्द स्वराज’ में कांग्रेस से लेकर कांग्रेस तक ही दोबारा लौटती है। कांग्रेस की ताकत से ज्यादा उसकी कमजोरियों को पहचाना जाता है और फिर अंत तक आते आते उसे वे अपने वैकल्पिक चिन्तन के द्वारा पाये गये नये निष्कर्ष और नये कार्यक्रम प्रदान करते हैं— सविनय अवज्ञा, सत्याग्रह और अहिंसक प्रतिरोध वाली नयी ‘सांस्कृतिक सियासत’ का एजेण्डा तैयार करते हैं। तो, इसका मतलब यह है कि ‘हिन्द स्वराज’ का जो मूल ढांचा है वह ‘राजनैतिक चेतना’ के तानेबाने से बुना गया है और इस मूल तथ्य को अगर हम ठीक से समझ पा रहे होते हैं, तो इसका मतलब होता कि अगर हमें इस किताब पर कोई बात करनी है, तो उसके केन्द्र में उस ‘सियासत’ और ‘सियासी चेतना’ को रखना पड़ेगा; अन्यथा वह पूरी बात परिधि के आसपास चक्कर काटने वाली बात होकर रह जायेगी। तो, यहीं से प्रस्थान करते हैं।

आलोचना, जमीनी यथार्थ और विकल्प की तलाश वाले ढांचे से निकली गांधी की चिन्तन प्रक्रिया, हमें जिस राजनैतिक चेतना तक ले जाती है उसकी मंजिल क्या है? ठीक से देखें तो खुद ‘हिन्द स्वराज’ के भीतर, उसके अपने ‘पाठ’ में, इसका जवाब नहीं है। ‘स्वराज’ को हासिल करना तो शर्त

तद्भव

भी है। स्वराज की मार्फत पहुंचना कहां है? गांधी इस सवाल से खुद जूझ रहे थे, पर 'हिन्द स्वराज' के लेखन काल में वे इसका उत्तर नहीं खोज पाये थे। हालांकि स्वराज के नाम पर 'गोरे साहबों की जगह काले साहबों को ले आने' (सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, 10, पृ. 60) की बात का वे खुद विरोध कर रहे थे पर वैकल्पिक राज्य क्या होगा, उसका स्वरूप, उसकी शासन पद्धति क्या होगी, इस पर गांधी वहां सविस्तार या सूत्र रूप में कोई बात नहीं करते। गांधी ने जवाब खोजा जरूर था, परंतु वह उन्हें अपने जीवन काल के अंतिम वर्षों में मिला। तब अपनी एक टिप्पणी में वे सूत्र रूप में इस ओर इशारा करते हुए कहते हैं कि उनके मुताबिक हिन्द का स्वराज, एक तरह के 'सांस्कृतिक जनतंत्र' की शकल वाला होगा। (सं.गां.वा. 89/64) हालांकि गांधी के इस सूत्र का, वहां भी बहुत खुलासा नहीं हो पाया, तथापि अन्यत्र, बहुत जगह बिखरे उनके धर्म और संस्कृति सम्बंधी विचारों के आधार पर यह अंदाजा अवश्य लगाया जा सकता है, कि उनकी इससे क्या मुराद थी। स्पष्ट है कि 'सांस्कृतिक जनतंत्र', भारत में लागू होने वाले 'समाजवादी जनतंत्र' और उसके नेहरूवादी व उत्तर नेहरूवादी रूपांतरों से एकदम अलग तरह का विकल्प है और यहां यह भी कहा जा सकता है कि यह पाकिस्तान में लागू हुए धार्मिक या साम्प्रदायिक जनतंत्र से भी एकदम अलग, ज्यादा उदार और मानवीय अवधारणा है, क्योंकि यह 'धर्मनिरपेक्षता' को अपने खास अर्थों में समेटती है। परंतु यहां यह सवाल पैदा होता है कि अगर यह सांस्कृतिक जनतंत्र, न तो धार्मिक साम्प्रदायिक हिन्दूवादी जनतंत्र है और न मौजूदा किस्म का धर्मनिरपेक्ष समाजवादी जनतंत्र, तो फिर यह क्या है? या क्या हो सकता है? इस सवाल के जवाब में गांधी के 'हिन्द स्वराज' की सारभूमि छिपी है। यानी वह विकल्प, जिसे वे अंग्रेजों के द्वारा भारत में आरोपित यूरोपीय जनतांत्रिक प्रणाली के 'भारतीय विकल्प' की तरह खोजना और विकसित करना चाहते थे।

अंग्रेजों के द्वारा भारत में आरोपित की गयी औपनिवेशिक और दासतामूलक जनतांत्रिक व्यवस्था की गांधी ने 'हिन्द स्वराज' में बड़ी तीखी आलोचना की है। इतनी तीखी कि उसमें वे 'अर्ध अपशब्दों के इस्तेमाल से भी नहीं हिचकिचाये हैं। गांधी की सविनय प्रतिरोधक चेतना को देखते हुए, उनके द्वारा अपशब्दों के प्रयोग की बात सहज स्वीकार्य नहीं होती। पर ये गांधी के शब्द हैं कि 'जिसे आप पार्लियामेंट की माता कहते हैं वह माता तो वंध्या और वेश्या है। यह पार्लियामेंट तो राष्ट्र का एक खिलौना भर है और बहुत मंहगा खिलौना है। मुझे प्रधानमंत्रियों से द्वेष नहीं है पर वे सच्चे देशाभिमानी नहीं माने जा सकते। जो वोटर हैं, अखबार उनकी धर्म पुस्तक हो गये हैं। आडम्बर रचने के कारीगरों के लिए लोग नगाड़ची हो जाते हैं। उनकी पार्लियामेंट भी उन जैसी होती है। भारत ऐसे अंग्रेजों की नकल करेगा तो बर्बाद हो जायेगा। दोष अंग्रेजों का नहीं है, पर उनकी यूरोप की जो सभ्यता है, वह असभ्यता है और उससे यूरोप की जनता बर्बाद होती जा रही है।' (सं.गां.वा. 10/17-18)

यूरोपीय जनतंत्र के ऐसे अंतर्विरोधों व दोषों की जमीन खोजते हुए गांधी वहां पीछे 'ग्रीको रोमन सभ्यता' तक जाते हैं जिसमें इस 'संसदीय जनतंत्र' के बीज स्रोत पड़े हैं और उसे रेखांकित कर वे यह टिप्पणी करते हैं कि 'जिस ग्रीको रोमन सभ्यता से ये यूरोपवासी अभी तक प्रेरणा लेते हैं, वह तो जाने कब की मिट खप चुकी' इसलिए भारतवासियों को उनकी नकल नहीं करनी चाहिए और अपने सभ्यतामूलक स्रोतों की तरफ देखना चाहिए। क्योंकि हमारे स्रोत अभी सूखे नहीं हैं। वे जीवंत भी हैं और विकासमान भी। गांधी की यह समझ उनके गहरे अध्ययन की उपज मालूम पड़ती है। क्योंकि फ्रांस की जनतांत्रिक क्रांति को प्रेरित करने वाले रूसो, वोल्तेयर या रस्किन जैसे चिन्तक बार बार प्लेटो के 'रिपब्लिक' की बहसों और चर्चाओं में लौटते हैं। वहां पीछे गणतंत्रों में जिस तरह के आदिम या अविकसित जनतंत्र के लिए चुने हुए प्रतिनिधियों की परिषदें कायम करने की बात मौजूद थी उसे ही 'संसदीय जनतंत्र' की आधुनिक अवधारणा में ढाल लिया गया। यह विचार यूरोप की राजनैतिक चेतना पर इतनी समग्रता से हावी हुआ कि 'चुने हुए प्रतिनिधियों की व्यवस्था' का विकल्प किसी के पास नहीं

तद्भव

बचा। न संसदीय प्रणाली को अपनाने वालों के पास और न 'सर्वहारा की तानाशाही' का समाजवादी सपना देखने वालों के पास, और न बहुत सी पार्टियों वाले बहुलतावादियों के पास और न एक पार्टी के शासन की वकालत करने वाले साम्यवादियों या जनवादियों के पास।

और चूंकि संसदीय या एक अथवा एकाधिक पार्टी के जनतंत्रों के कुछ दूसरे मॉडल मौजूद होने से जुड़े कई राजनैतिक विकल्पों के बावजूद, चुनाव व्यवस्था वाली बुनियादी बात एक तरह से सर्वस्वीकृत बात होती गयी। तब ऐसे में गांधी के 'किसी अन्य विकल्प' की सम्भावना बहुत विचारणीय हो जाती है। तमाम चुनाव पद्धतियां गहरे में 'बहुमत' के फैसले से जुड़ी पद्धतियां हैं। परंतु लगता है कि गांधी इस 'बहुमतवाद' से खासे असंतुष्ट और इसीलिए असहमत थे और इसीलिए वे इसकी इतनी बेबाक और 'निहंग' आलोचना करते हैं परंतु सवाल यह है कि इस आलोचना की उनकी जमीन क्या है? वह कसौटी क्या है, जिस पर कस कर वे इस 'बहुमतवादी' व्यवस्था को निरस्त करने की सोच रहे थे? उनके सांस्कृतिक जनतंत्र का ठोस जमीनी रूप क्या था? अब इस सवाल में गहरे में उतरने पर हम गांधी के 'हिन्द स्वराज' से 'बाहर' के दूसरे स्रोतों पर जाने को विवश हैं। लगता है कि उनके चिन्तनकर्म के आरम्भिक दौर की यह किताब सवाल खड़े करती है— जिनके जवाब खुद गांधी ने अपने परवर्ती जीवनकाल में अपनी लम्बी जद्दोजहद की अवधि के दौरान— खोजे। सम्भवतः इस संबंध में उनका जवाब था— सर्वोदय से जुड़ी सर्वसम्मति की अवधारणा में। विरोधियों का 'सांस्कृतिक रूपांतर' (हृदय परिवर्तन) करते हुए आखिरकार सर्वसम्मति की पद्धति या व्यवस्था तक पहुंचना उनकी मंजिल थी। वे जीवन भर खुद भी इसी दिशा में काम करते रहे। हालांकि इसीलिए उन्हें अत्यावहारिक होने और कहलाने के आरोपों का सामना भी खूब करना पड़ा।

सर्वोदय के लिए सर्वसम्मति की सियासत से काम चलाने की बात फिलहाल इसलिए अत्यावहारिक और घबराहट में डालने वाली चीज मालूम हो सकती है, क्योंकि आधुनिक काल में विकास की बाबत मानवजाति की सारी विचारधारात्मक समझ मानव समाजों के वर्गीय विभाजनों से पैदा होने वाली समझ हो गयी है। हालांकि वर्ग विभाजन और उससे उपजने वाले तमाम वर्ग संघर्षों की मंजिल एक वर्गविहीन समाज संरचना तक पहुंचने की बात करती है, परंतु वहां भी 'द्वंद्व' और 'संघर्ष' को अनिवार्यतः मौजूद माना जाने लगा है। जैसे कि 'द्वंद्व' ही जीवन की मूल संरचना और विकास की अंतःसंरचना के रूप में एक प्राकृतिक नियम की तरह हमेशा वजूद में रहने वाली वस्तु हो और उससे संघर्ष भी पैदा होना एक लाजिमी व सनातन नियम हो। गांधी को समझने के लिए जरूरी है कि हम ऐसे विचारधारात्मक नतीजों के रूबरू उन्हें रख कर फिर उनके नतीजों की जांच करें।

द्वंदात्मक भौतिकवादी नजरिये से देखें तो वर्ग संघर्ष के आखिरी नतीजे के तौर पर मानवजाति जिस वर्गविहीन दशा को उपलब्ध होती है। वहां भी द्वंद्व भिन्न शकल में मौजूद रहता है क्योंकि वह विकास के लिए एक लाजिमी जमीन की तरह होता है। यहां से एक कदम आगे बढ़ें। द्वंद्व व संघर्ष की एक वर्गविहीन समाज में बदली हुई शकल क्या होती है? या क्या होनी चाहिए? क्या वह सामाजिक रूपांतर के लिए जरूरी हालात को हासिल कर लेने के बाद मानव की अंतः प्रकृति के रूपांतर के लिए उसकी चेतना की वर्गविहीन दशाओं को जन्म देने के लिए एक नयी अंतःसंघर्ष जैसी वस्तु हो जाता है? तार्किक तरीके से देखें तो उसे कुछ इसी तरह के अंतःरूपांतर की ओर बढ़ना चाहिए और अगर हम इस दिशा में आगे बढ़ते हैं, तो क्या जल्द ही हम मनुष्य के चित्त के 'अहिंसक रूपांतर' में उसके मानवीय सारतत्व को उपलब्ध करने का रास्ता ही नहीं खोज और खोल रहे होते हैं! कार्ल मार्क्स सामाजिक विकास की प्रक्रियाओं को दो तरह के उत्पादनमूलक रिश्तों के रूप में खोजते हैं। वर्ग विभाजित समाजों में ये रिश्ते 'हिंसक' होते हैं, जबकि ये रिश्ते वर्गसंघर्ष की सर्वहारा के द्वारा की गयी हिंसा पर इंकलाबी, गतिविधियों की मदद से जिस वर्गविहीन समाज की स्थापना की ओर बढ़ते हैं, उसमें इन रिश्तों का रूप 'अहिंसक' हो जाता है। बेशक यहां मैंने जिस रूप में 'हिंसक और अहिंसक' शब्दों का इस्तेमाल किया है। उससे कुछ प्रतिबद्ध मित्रों को ऐतराज हो सकता है, परंतु मुझे लगता है कि मार्क्स के द्वारा

तद्भव

इस्तेमाल में लाये गये शब्दों 'एंटैगनिस्टिक' और 'नॉन एंटैगनिस्टिक' (अंग्रेजी में स्वीकृत अनुवाद) के हिन्दी की प्रकृति के मुताबिक 'भावानुवाद' हिंसक और अहिंसक होने चाहिए।

पर गांधी के यहां 'अहिंसा' एक तरह का भावबोध, चेतना या शायद मानसिकता (सायकी) जैसी वस्तु है! जबकि मार्क्स उसके ठोस उत्पादनमूलक सामाजिक रिश्तों वाले रूप को केन्द्र में रखते हैं। दूसरे, गांधी 'हिंसा' को 'साधन' के तौर पर भी स्वीकार नहीं करते, जबकि मार्क्स उसे सामाजिक विभाजनों की वजह से पैदा होने वाले रिश्तों की उपज मानते हुए 'नीतिगत' सवाल बनाने की जरूरत नहीं समझते। तो ये दो कारण हैं जिनकी वजह से मार्क्सवादियों को गांधी गैर इंकलाबी, भाववादी और यथार्थविरोधी चिन्तन वाले व्यक्ति मालूम पड़ते हैं। परंतु थोड़ा गहराई से सोचने पर लग सकता है कि गांधी की बाबत किये गये ये फैसले, हड़बड़ी और सरलीकरणों के शिकार हैं और इनका ताल्लुक गांधी और मार्क्स दोनों के वास्तविक सामाजिक प्रायोजकों या रूपांतर की संरचनाओं के साथ एकदम नहीं है। फर्क महज प्रक्रियागत है, प्रयोजनगत नहीं; और इतना ही नहीं, जहां तक ठोस जमीन या यथार्थ से चिन्तन को ग्रहण करने की बात है उसमें ये दोनों यथार्थ के साथ और करीब खड़े मालूम होते हैं यानी दोनों की जमीन और मंजिल साझी है, पर रास्ते अलहदा हैं।

यहां अगर हम जरा रुक कर हड़बड़ी छोड़ कर इस विचारसूत्र की गहराई में उतरें कि चेतना गहरे में ठोस सामाजिक रिश्तों की उपज होती है (जैसा मार्क्स ने प्रस्तावित किया), तो कहीं न कहीं हमें, गांधी की 'अहिंसक चेतना' के पीछे छिपा सामाजिक रिश्तों का तानाबाना भी, हो सकता है, दिखायी देने लगे। दिक्कत की बात सिर्फ इतनी है कि गांधी अपनी धारणाओं को जिन सांस्कृतिक स्रोतों से ग्रहण करते हैं, उनके भाववादी या आदर्शवादी होने की स्थिति से खुद को अलहदा नहीं करते, हालांकि इस सांस्कृतिक परम्परा के दकियानूसी अंधविश्वासी रूप में अपनी असहमति जाहिर करते हुए अपने समय के यथार्थ की ओर बार बार मुड़ते हैं। पर उनका यह 'मुड़ना' भी उनके अपने लफ्जों में 'ईश्वर की प्रेरणा' जैसी बात होकर ही निपट जाता है। जैसेकि एक जगह वे सामाजिक कल्याण को अपने जीवन का लक्ष्य घोषित करते हुए इसे 'ईश्वर की मंशा' से जोड़ देते हैं हालांकि फिर अपने इसी ईश्वर की व्याख्या करते हुए कहते हैं— 'ईश्वर जीवन है, भलाई है' (सं.गा.वा. 89/60-02) तो, अगर हम उनकी अहिंसा की धारणा को ठोस सामाजिक रिश्तों की एक खास तरह की समझ का नतीजा मान कर आगे बढ़ें तो भी हम दो बातें कह सकेंगे एक, अगर अहिंसा ठोस सामाजिक रिश्तों की उपज है, तो ऐसे रिश्ते कहां हैं? कहीं वे गांधी की आदर्शवादी कल्पना की उड़ान भर तो नहीं? और दूसरी, अगर हिंसा वाकई कहीं एक ठोस मूर्त सामाजिक यथार्थ की तरह उपलब्ध होती है, तो पूरा समाज हिंसा के विविध रूपों की चपेट में नजर क्यों आता है? और क्या इसी वजह से हिंसा का हिंसा से प्रतिरोध, कांटे से कांटा निकालने की तरकीब की तरह जायज नहीं? गांधी के समय में ये सवाल कांग्रेस के गर्म दल वाले लोग और दूसरे इंकलाबी गतिविधियों में जुटे लोग बार बार उठाते थे, परंतु वे सवाल और गांधी के जवाब दोनों अपने युग की सीमाओं में बंधे रह जाते हैं। यहां उन्हें उठाने का मकसद, उन्हें अपने समय की विचारधारात्मक बहसों तक ले आने को है, ताकि अगर हमें वहां अपने युग के रूपांतर के लायक कुछ भी— एकाध अर्थ कण ही— मिल सके, तो हम उसका अपनी जरूरतों के मुताबिक विस्तार और विकास कर सकेंगे।

हमारी अब तक की इस पूरी खोजबीन का नतीजा यह सवाल है कि गांधी जिस वैकल्पिक 'सांस्कृतिक जनतंत्र' की स्थापना का सपना देख रहे थे— जो उनके मुताबिक भारत का यथार्थ था— उसके लायक 'अहिंसक उत्पादन मूल रिश्तों वाले समाज' की जमीन कैसे तैयार हो सकती है और अपने मूर्त ठोस रूप में वह कैसा समाज या कहे कि कैसा 'हिन्द स्वराज' हो सकता है।

II

गांधी की औद्योगिक पूंजीवादी सभ्यता की आलोचना में, उनकी अपनी जमीन की खोज के बारे में बेचैनी छिपी है और वहीं से विकल्प की तलाश के सफर पर निकलते हैं। यहां पहले उसी 'आलोचना' के पीछे मौजूद उनकी 'यथार्थ पर पकड़' की बात करते हैं ताकि आधुनिक यथार्थवादी विचारधाराओं के द्वारा किये गये विवेचनों और विश्लेषणों से उनकी तुलना हो सके। 'हिन्द स्वराज' के मूल पाठ में उनकी 'यंत्र संस्कृति' की आलोचना में यह टिप्पणी मिलती है: "औद्योगिक विकास के साथ मजदूरों के शोषण की अनीति अनिवार्यतः जुड़ी है। यह अनैतिकता अमीर बना सकती है, पर इसे कुबूल करके अगर भारत अमीर बन गया तब भी गुलामी से कभी छुटकारा नहीं पा सकेगा।" (सं.शां.वा. 10/57) आगे चल कर वे बड़े साफ लफ्जों में रेखांकित करते हैं कि "औद्योगिक पूंजीवाद मूलतः 'गुलामी और शोषण का व्यवहार है' इसे अंग्रेज हमारे यहां इसलिए लागू कर पा रहे हैं, क्योंकि भारत के अमीरों ने अपने धनलाभ के लालच से उन्हें अपने यहां टिका रखा है।" (वही, पृ. 58) यहां हम गांधी को औद्योगिक पूंजीवाद के औपनिवेशिक रूप की आलोचना करते हुए पाते हैं। वे इसका विरोध करना चाहते हैं परंतु दिक्कतें हैं, वे इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि मैनेजमेन्ट की मिलें भारत का शोषण करने में इसलिए कामयाब हो सकी हैं क्योंकि उनके बनाये कपड़े हम पहनते हैं। पर वे जानते हैं कि इन उद्योगों को बंद नहीं किया जा सकता, इसलिए वे सलाह देते हैं कि हम इनके 'मानवीय इस्तेमाल' के बारे में सोचना शुरू करें। (वही)

मार्क्स औद्योगिक पूंजीवाद की इन्हीं बुराइयों को देखते हुए उसे सर्वहारा के नियंत्रण की वस्तु बना देना चाहते हैं ताकि वह मजदूरों के शोषण की एवं अमीरों को और अमीर करते जाने की व्यवस्था न बनी रहे। उत्पादन सम्बंधों के रूपांतर के जरिए वे उत्पादनों के न्यायपूर्ण वितरण और मुनाफे पर समाज के साझे अधिकार वाली व्यवस्था तक पहुंचना चाहते हैं। इसके लिए वे राज पर नियंत्रण का रास्ता चुनते हैं। ऐसा करने के लिए लोगों का संगठित होकर 'हिंसा के सत्ता तंत्रों' को हटाना और उन पर काबिज होना जरूरी हो जाता है। गांधी इस रास्ते से असहमत हैं; क्योंकि उन्हें लगता है कि हिंसा को 'साधन' बना लेने से, समाज के उत्पादन और सत्ता के तंत्रों का 'मानवीय रूपांतर' नहीं हो पायेगा। 'मानवीय इस्तेमाल' के लायक बनाने के लिए इन तंत्रों या व्यवस्थाओं को 'अहिंसक' तरीकों से बदलना जरूरी हो जाता है।

गांधी के चिन्तन के केन्द्र में मुनष्य है, मार्क्स के चिन्तन के केन्द्र में समाज तथापि मंजिल दोनों की एक ही है— एक मानवीय व्यवस्था को लाना; यानी अहिंसक (नॉन एंटीगनिस्टिक) उत्पादन सम्बंधों वाले वर्गविहीन समाज को प्रकट होने लायक बनाना। जहां तक गांधी के इस वैकल्पिक रास्ते को चुनने की बात है, वह सुनने में अच्छी लगती है। पर संशय भी होता है कि कहीं यह अपवाद या आदर्शवाद की अमूर्त भूलभुलैया में ही हमें ले जाकर छोड़ देने वाली बात साबित न हो जाये। इसलिए जरूरी लगता है कि हम गांधी की 'भाषा' में मौजूद इस रहस्यवाद या आदर्शवाद के आरोप को परे हटा कर, उनके यथार्थवादी आशयों की जमीन के हालात से पुष्ट होने वाली व्याख्या तक पहुंचें और कोशिश करें कि उसका अपने समय की जरूरतों के मुताबिक पुनर्विकास करें— ठीक उसी तरह जैसे गांधी अपने 'हिन्द स्वराज' के मूलपाठ में अपनी तमाम धारणाओं को— विकल्प की सम्भावनाओं को— खोलने की दिशा में मोड़ते हैं जिससे 'सत्य' (का आग्रह) 'आचरण' में उतरने लायक हो सके।

III

'हिन्द स्वराज' को लिखने के पीछे गांधी का जो असल मकसद है, वह ऊपरी तौर पर अंग्रेजों की गुलामी से निजात पाते हुए हिन्द के स्वराज को हकीकत में बदलना है; पर गहरे में वह 'अंग्रेज' को भारत

तद्भव

से बाहर खदेड़ देने की बजाय, 'अंग्रेजी सभ्यता' को उसके तबाहकुन मोहपाश को, ढीला करके, एक 'भारतीय विकल्प' को उसकी जगह लाकर बिठा देना है, ताकि वह भारतीय विकल्प हमारे वास्तविक विकास की वजह बन सके। यानी सियासी गुलामी से मुक्ति गांधी के लिए एक भूमिका की तरह है, जबकि उनकी मुक्ति इसके मुकाबले में कहीं बड़ी, गहरी व व्यापक है। अपनी इस मुक्ति के दायरे में वे भारत के प्रवेशद्वार से होते हुए, पूरी दुनिया को, सारी मनुष्यजाति को समेट लेते हैं। अपने चिन्तन के उस गहरे स्तर पर वे सीधे मनुष्य, प्रकृति, गांव और श्रम इन चारों से ताल्लुक रखने वाले मानवीय विकास की सम्भावनाओं को खोलते खोजते हैं।

यूरोपीय या पश्चिमी सभ्यता की बुराइयों की गांधी बड़ी कटु और निर्भीक आलोचना करते हैं। वे इस सभ्यता को हिंसा, लालच, इंद्रियसुखभोग, आडम्बर और अहंकार जैसी प्रकृतिविरोधी व अमानवीय प्रवृत्तियों से युक्त होने की वजह से आलोचना का विषय बनाते हैं और इसे 'असभ्यता' का दर्जा देते हैं।

गांधी को लगता है कि भारत इंद्रियसुखभोग के लालच में पड़ कर पश्चिमी सभ्यता की गिरफ्त में आता जाता है। हालांकि इसे बढ़ावा देने की असली जिम्मेवारी यहां के अमीरों व सामंतों की है। क्योंकि इसका फायदा मुख्यतः उन्हें ही पहुंचता है। फिर भी सामान्यजन झूठे प्रचार के वशीभूत इस लालच का शिकार हो जाता है। दूसरे, भारत के लिए गांधी इस पश्चिमी सभ्यता के प्रलोभकारी रूप को ही खतरनाक नहीं मानते, वे इसे इसके औपनिवेशिक रूप की वजह से उल्टे और भी ज्यादा त्याज्य मानते हैं। उनके अनुभव का एक निष्कर्ष यह है कि 'मानचेस्टर' की मितों की वजह से भारत के कारीगर तबाह हुए हैं; और उनकी यह स्थिति बनी रह जाती है तो भारत की आर्थिकता 'परजीवी' हो जायेगी और इसके स्वावलम्बी न हो पाने से हिन्द के स्वराज की बात ही अपना अर्थ खो सकती है। परंतु ऐसे हालात का विकल्प वे औद्योगिक पूंजीवाद वाले रास्ते को अपनाने में नहीं खोजते हैं क्योंकि 'अगर भारत में भी बंदूकें बनाने के कारखाने स्थापित हो गये तो भारत, भारत नहीं रह जायेगा।' (वही 10/10) यहां गांधी विकास के समाजवादी मॉडल से भी ज्यादा गहरे तथा आगे पहुंचते मालूम पड़ते हैं, क्योंकि उसका निशाना भी अंततः पूंजीवादी व औद्योगिक विकास के मूल रूप को तबाहकुन नहीं मानता है और उसे केवल शोषणकारी होने की वजह से सर्वहारा के नियंत्रण में लाकर न्यायपूर्ण वितरण द्वारा मुनाफाखोरी से उबारने की बात उठाता है। परंतु इस राह पर चलने का जो खतरा है वह रूस और चीन के प्रयोगों की वजह से उजागर हो गया है। अंततः उनके तरीके का समाजवाद, परोक्षतः पूंजीवादी औद्योगिकरण के रास्ते पर चलता हुआ, पश्चिमी मुल्क से होड़ करने की फिराक में आ गया दिखायी देता है और फिर पश्चिमी मुल्कों को भी इस विकास के रास्ते पर पीछे छोड़ देने के लिए इस विकास के भीतर से निकले उपभोक्तावाद को भी अपने अपने जनसमाजों की जीवनशैलियों का हिस्सा बनाने से रोक नहीं पाया है। इस अंतर्विरोध ने रूस को बिखेर दिया और चीन को आत्मकेन्द्रित आर्थिक शक्ति में बदल कर उपभोक्ता वस्तुओं का ही नहीं, मारक हथियारों का भी एक बड़ा निर्यातक बना दिया है। इंकलाब को आगे ले जाने का सबक पढ़ने वाले नक्सली या माओवादी ही इन मादक हथियारों से बेगुनाह नागरिकों की जान तक लेने से नहीं हिचक रहे हैं। इसका बड़ा फायदा पूरी तरह गैर इंकलाबी तालिबान भी उठा रहे हैं जिनका मकसद 'नवसाम्राज्यवाद को परोक्ष चुनौती देने की आड़ लेता तो देखा दिखाया जा सकता है पर वह असल में 'इस्लाम की फतेह' चाहता है उसे छिपाना किसी के लिये मुमकिन नहीं रहता।

समाजवादी चिन्तनधाराएं और विकास के मॉडल गहरे में औद्योगिक पूंजीवाद की कोख से निकले होने की वजह से उस उत्पादन पद्धति का वास्तविक विकल्प प्रस्तुत करने से चूकते रहे हैं और वर्गविहीन समाज की स्थापना की बात अतिक्रमणकारी होने के बावजूद व्यावहारिक होने से कमतर रह गयी है। ऐसे में गांधी की ओर विकल्प की तलाश में देखना एकदम गैरवाजिब भी नहीं लगता हालांकि

तद्भव

उसी बाबत यह कहा जा सकता है कि वह एक ऐसा विकल्प है जो अभी तक अपनी पहली उड़ान भी नहीं भर सका। बेशक यह आलोचना संशयग्रस्त बनाती है परंतु एक तथ्य इसके हक में जाता है; वह यह है कि रूस औद्योगिक पूंजीवाद की कोख से निकले अमानवीय उपनिवेशवाद का कभी शिकार नहीं हुआ इसलिए वहां प्रकट होने वाला समाजवादी मॉडल भले ही पश्चिमी मुल्कों के लिए सबसे बड़ा खतरा बन कर मंडराता रहा पर वह सबसे पहले दम तोड़ गया। चीन का समाजवादी मॉडल वहां की अर्ध औपनिवेशिक स्थितियों से जूझता टकराता सामने आया। वह अभी कायम है, पर उसका जिस हद तक उपभोक्ताकरण हो गया है, उसके उत्तर औद्योगिक पूंजीवाद का विकल्प हो सकने की सम्भावनाएं उसी हद तक खारिज भी होती दिखायी देने लगी हैं। जहां तक भारत का मामला है यहां के पूर्ण औपनिवेशिक हालात में समाजवाद कभी ठोस सम्भावना नहीं बन पाया। परंतु अगर हम वाकई एक 'विकल्प' को खोजने निकले हैं तो उसे किसी पूर्व उपनिवेश की जमीन में खोजना ही बेहतर और तार्किक रूप से संगत बात हो सकती है। भारत भी उसके लिए दावेदार है खासतौर पर गांधीवाद की वजह से जिसके इंकलाबी अंतर्विकास की सम्भावनाएं अभी तक मौजूद नजर आती हैं। बशर्ते हम इस चिन्तनधारा का तार्किक रूप से विचारधारात्मक पुनर्विकास कर सकें और इसे इसके रहस्यात्मक तत्वों से अलहदा करने की वजह को साबित करके स्वीकार्य बना सकें।

IV

पश्चिमी ग्रीको रोमन सभ्यता के मूल विचारों में से एक यह है कि मनुष्य, प्रकृति को नियंत्रित करने वाले विचारतंत्र (लोगोस) को जान समझ कर प्रकृति की कमजोरियों तक को दूर कर के एक आदर्श समाज की रचना कर सकता है। इस तरह की चिन्तनधारा मनुष्य के प्रकृति तक पर नियंत्रण करने और विश्वविजेता होने की सामर्थ्य पाने की ओर ले जाती है। आधुनिक काल के द्वंद्वात्मक चिन्तन में इस विचारधारा को थोड़ा सुधारा गया है। एंगेल्स ने मनुष्य के प्रकृति के साथ द्वंद्वात्मक रिश्तों की बात करते हुए परस्परपूरक रिश्तों के विकास को अपनाने का विचार सामने रखा है। मनुष्य और प्रकृति की आपसदारी में वे विकास के सम्यक रूप को खोजना चाहते हैं। परंतु गांधी इस सब से सहमत नहीं हैं। वे मनुष्य को प्रकृति के सांचे में ढाल कर ही उसके अर्थ को (मानवीय सारतत्वों को) खोजने लायक होने की बात करते हैं। इस तरह 'मानवीय अर्थों या सारतत्व वाली प्रकृति' गांधी की चिन्तनधारा में खुद मनुष्य के लिये अनुकरणीय मालूम पड़ती है। वे मनुष्य के भीतर की उस 'अंदरूनी प्रकृति' को खोजते हैं जिसका तालमेल 'बाहर की प्रकृति' से बैठ सकता है। वे मनुष्य के 'हाथों पैरों से कार्य करने की प्राकृतिक सामर्थ्य' का सवाल उठाते हैं और उसी के मुताबिक श्रम करने करवाने वाली समाज संरचना को मनुष्य के लिये हितकारी मानते हैं। 'हिन्द स्वराज' में उन्होंने रेलगाड़ियों की आलोचना करते हुए इस प्राकृतिक श्रम सामर्थ्य का सवाल उठाया है। इसे वे मनुष्य के 'स्वस्थ' होने की कुंजी मानते हैं। 'स्वस्थ' शब्द को वे स्व यानी मनुष्य की अंदरूनी प्रकृति में स्थित होने का पर्याय मानते हैं। यंत्रों या वाहनों की मदद से मनुष्य और उसका विकास दोनों तेज रफ्तार से दौड़ सकते हैं। परंतु गांधी इसे 'स्वस्थ' या 'प्राकृतिक जीवनशैली' का लक्षण नहीं मानते। गांधी अपनी इस समझ के मुताबिक यंत्र, उद्योग, बड़े शहर और उनसे ताल्लुक रखने वाले जटिल सत्तातंत्र (यानी प्रजातांत्रिक व्यवस्था) इन सबको अपनी आलोचना का विषय बनाते हैं। और चूंकि इन सबको छोड़ा नहीं जा सकता इसलिए वे इनके 'मानवीय' या 'प्राकृतिक इस्तेमाल' के तरीके खोजने का आग्रह करते हैं।

'हिन्द स्वराज' में वे अपनी इस प्राकृतिक मानवीय दृष्टि को भारत की जमीन से उपजने वाली वस्तु की तरह देखते दिखाते हैं। वे तर्क देते हैं कि 'अपनी इसी समझ के कारण भारत ने बड़े शहरों का विकास नहीं किया' इस संबंध में उनका तर्क एकदम से खारिज करने लायक नहीं लगता।

तद्भव

वे कहते हैं कि बड़े शहर लुटेरों व वेश्याओं की टोलियों के लिए होते हैं। (सं.गां.वा. 10/36) एंगेल्स भी बड़े शहरों के विरोध में अपनी तरह के तर्क जुटाते हुए करीब करीब यहीं पहुंचते हैं। वे कहते हैं कि बड़े शहर प्राकृतिक संसाधनों का बहुत बड़ा हिस्सा खा जाते हैं और प्रकृति को प्रदूषित करने में बड़ी भूमिका निभाते हैं, इसलिए मानवजाति को देर सवेर गांवों की ओर वापसी की बाबत संजीदगी से सोचना होगा। पांचवें छठे दशक में बहुत से अस्तित्ववादी चिन्तक एक अन्य नजरिये से शहरों के खिलाफ खड़े होने की यह वजह पाते हैं कि बड़े शहर मनुष्य के अस्तित्व के अजनबीकरण का सबसे बड़ा स्रोत होते हैं। क्योंकि वहां व्यक्तित्वविहीन और दिशाहीन बनाने वाला भटकाव हर वक्त मनुष्य को दबोचने के लिए मुंह बाये खड़ा मिलता है। ऐसी व्यक्तित्वविहीनता मनुष्य को एक गैरजिम्मेदार प्राणी बनने के लिए उकसा सकती है। बड़े शहर इस लिहाज से उपभोक्तावादी प्रलोभनों का मायाजाल खड़ा करते हैं। गांधी के लिए यही सब एक भिन्न भाषा में एक भिन्न चिन्ता का विषय बनता है। वे भारत और उसकी सभ्यता की असल जमीन 'मनुष्य द्वारा मन और इंद्रियों पर संयम रखने और प्राकृतिक जीवन पद्धति अपनाने में मानते हैं' (10/35-36) इसलिए उन्हें बड़े शहरों की बजाय भारतीय गांव सभ्यता के ज्यादा करीब दिखायी देते हैं।

परंतु अगर हम व्यापक रूप में मानवजाति और विश्वसमाज के लिए विकास के वैकल्पिक मॉडल की तलाश में 'हिन्द स्वराज' में मौजूद अनेक बिखरे हुए सूत्रों को पकड़ें और उच्च तकनीकी वाले अपने दौर में उनके अंतर्विकास के रास्तों को पकड़ने की बाबत सोचें तो यह काम फिलहाल खासा शुरुआती किस्म का मालूम होगा। फिर भी दूसरे रास्तों पर प्रश्नचिह्न लगने की वजह से इस बाबत सोचना एकदम निरर्थक भी नहीं लगता। तो इस रास्ते को चुनने का मतलब है उच्च तकनीकी की सारी विशेषज्ञता के साथ पुनः उन्हीं हालात या बीजस्थितियों में लौटना जहां से विकास की तेज गति को पाने के लालच में मानवजाति ने खुद गलत कदम उठा लिए थे, और अब उन्हीं गलतियों को सुधारने के लिए अपनी तमाम विशेषज्ञता की मदद से पीछे मुड़ कर बीज स्थितियों के भीतर से नये वैकल्पिक विकास की राह को खोलना है यानी मानवजाति को पीछे मुड़ना है :

एक - ग्रामकेन्द्रित समाज संरचनाओं में

दो - देह की प्राकृतिक सामर्थ्य के मुताबिक श्रम सृजन की अभिव्यक्तियों में

तीन - प्राकृतिक संसाधनों के पुनर्शांथनीय पुनरुत्पादनों पर खड़े अर्थतंत्र में

चार - मन और इंद्रियों पर संयम से निकली प्राकृतिक जरूरतों की पूर्ति का इंतजाम करने वाली वितरण प्रणालियों में

पांच - आत्मानुशासन की संस्कृति को बढ़ावा देने वाले 'स्वराज' के सत्तातंत्र में

छह - गांवों तक विकेन्द्रित सत्ता के प्रतिनिधियों के चुनाव के लिए छोटी छोटी जनसमूह इकाइयों से सर्वसम्मति पर आधारित व्यवस्था में वापसी जो गहरे में वर्गविहीन समाज की जातीय स्मृतियों का उद्बोधन करेगी।

सात : जनसमूहों की छोटी इकाइयों के लिए बहुसांस्कृतिक मॉडल का नवविकास जो गहरे में कबीलाई बहुदेववाद का समसामयिक पुनर्विकास हो सकता है।

आठ - प्राकृतिक जीवनशैलियों में वापसी, ताकि मनुष्य व्यक्तित्व खो देने के उत्तर आधुनिक मह. नगरीय परिवेश के बावजूद किसी नयी तरह की आत्ममयता को उपलब्ध होने की बाबत सोच सके।

ऊपर ये जितनी बातें प्रस्तुत की गयी हैं; उनमें विश्व समाज के लिए एक वैकल्पिक विकास का नया मॉडल छिपा तो जरूर मालूम पड़ता है परंतु 'हिन्द स्वराज' में वह 'अंडर करंट' उसकी 'अंदरूनी संरचना' की तरह है। वहां से उसे खोज कर इस कृति का मुख्य आशय बना देना एक कठिन काम लगता है। हालांकि इसकी वहां गहरे में जो मौजूदगी है, वह कहीं भी अनदेखी के लायक नहीं लगती। फिर भी इतना जरूर कहा जा सकता है कि यह सब इस किताब का मुख्य विषय नहीं है।

तद्भव

मुख्य विषय के रूप में तो भारत की औपनिवेशिक दासता से आजादी, कांग्रेस की संगठनात्मक एकता और अंग्रेज की बजाय अंग्रेजी सभ्यता को उखाड़ने हुए आजादी की ओर, अहिंसक तरीके से सत्याग्रह करते हुए आगे बढ़ने की राह दिखाना है। परंतु यहां गांधी भारत के जिस गैर औपनिवेशीकरण की बात उठाते हैं उसकी जमीन इतनी गहरी है कि वह हमें इस अंतस्संरचना में उतारे बिना रास्ते में जैसे कहीं और रुकना ही नहीं जानती। इस लिहाज से गांधी की फिक्र हिन्द की आजादी से कहीं ज्यादा बड़ी, विश्वमानव के दायरे तक चली जाती है।

और फिर गांधी की इस किताब की अंतस्संरचना में मौजूद विकास के वैकल्पिक मॉडल की ओर रुख करने की दूसरी वजहें भी हैं जो हमारे अपने समय की उपज हैं। पहली है विश्व में जनतंत्र के मौजूदा रूप का संकट जो उसके नवसाम्राज्यवादी चेहरे को उजागर कर रहा है। दुनिया भर में पश्चिमी मॉडल के जनतंत्र को एक विश्व इंकलाब की तरह फैलाने का अमरीका और नाटो गठबंधन का इरादा बड़ी जल्दी नवसाम्राज्यवादी युद्ध लिप्सा वाली उसकी असलियत को सामने लाता भी दिखायी दे ही जाता है जैसाकि हाल ही में लड़े गये इराक युद्ध और फिर अफगानिस्तान के युद्ध में नजर आया है। और उसकी मजबूरियां और अंतर्विरोध पाकिस्तान को फौजी सहायता जारी रखने व इजरायल के साथ खड़े होने के 'बाई प्रोडक्ट' की तरह फिलिस्तीन के स्वशासी जनतात्रिकीकरण को रोके रखने आदि की शक्ति में दिखायी दे जाते हैं। वोटों के संतुलन को ये नवसाम्राज्यवादी मुल्क आतंकवाद व आर्थिक आधार की मजबूती का मुजाहरा करने से जुड़ी लोगों की खरीदोफरोख्त को प्रत्यक्ष या परोक्ष तरीके से शह देने की प्रवृत्तियों के द्वारा दुनिया भर के किसी भी मुल्क में अपने हितों व मंशाओं के मुताबिक मोड़ने का गैर जनतात्रिक खेल तो खेला ही करते हैं। 'बहुमत' के आधार पर 'चुनाव' सत्ता का ऐसा तरीका बन गये हैं जिसे गांधी अमीरों का खिलौना मानते थे और दूसरे विकल्प की तरह चीन की समाजवादी व्यवस्था के अंतर्विरोध भी उजागर हो चुके हैं। उत्तर औद्योगिक उच्चतकनीकी उपभोक्ताकरण ने जैसे सत्ता के सभी उपलब्ध रूपों को निगल लिया है।

दूसरे, उत्तर औद्योगिक पुनरोत्पादन पद्धतियां प्रकृति का इतना दोहन शोषण कर चुकी हैं कि पर्यावरण और प्रकृतिक संसाधनों के प्रदूषित होने व कमतर होते जाने का संकट मानवजाति के लिए ही नहीं पृथ्वी पर जीवन के समूचे अस्तित्व के लिए खतरे की घंटी का काम कर रहा है।

तीसरा संकट सभ्यतामूलक है, जो उपलब्ध सभ्यता रूपों की मानवविरोधी भूमियों को नंगा कर रहा है, इस्लामी आधार वाली सभ्यता से जुड़ी लड़ाइयां आतंकवाद से लेकर फिदाईनवाद तक पतनशीलता की जद में हैं और पश्चिमी सभ्यता अपने विश्वविजेता वाले रूप को नवसाम्राज्यवादी तौर तरीकों में ढाल कर अभी तक लागू करने करवाने की वर्चस्ववादी 'ज्ञान शक्तिमूलक' सोच में ढली लगती है तो, जनतंत्र, प्रकृति और सभ्यता— इन तीन बड़ी जमीनों के संदर्भ में गांधीवादी विकास विकल्प को पुनर्विचारणीय मानने के लिए एक मौजूं पृष्ठभूमि का निर्माण भी होता नजर आता है। क्या यह 'हिन्द स्वराज' जैसी किताब में लौटने के लिये पर्याप्त कारण नहीं है!